International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

वैदिक साहित्य में राज्य के प्रारम्भिक तत्त्व : ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं ब्राह्मण ग्रंथों का राजनीतिक अध्ययन

डॉ ऋचा शर्मा
सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, किशन लाल पब्लिक कॉलेज, रेवाड़ी (हरियाणा)

वैदिक साहित्य का राजनीतिक अध्ययन एक विशिष्ट पद्धतिगत चुनौती प्रस्तुत करता है। इसका कारण यह नहीं है कि वैदिक साहित्य में राजनीतिक जीवन के संकेत उपलब्ध नहीं हैं, बल्कि यह है कि वे किसी क्रमबद्ध राज्यशास्त्रीय प्रतिपादन के रूप में न होकर मंत्रों, आख्यानों, अनुष्ठानों तथा सामाजिक संदर्भों में अंतर्निहित रूप से व्यक्त होते हैं। परिणामस्वरूप इनके आधार पर राज्य-संबंधी अवधारणाओं का अध्ययन एक विशिष्ट पद्धतिगत सावधानी की अपेक्षा करता है। (जैमिसन, स्टेफ़नी डब्ल्यू., एवं ब्रेरेटॉन, जोएल पी. (अनु.). (2014); कीथ, ए. बी,1925)

इसी कारण वैदिक साहित्य के राजनीतिक अध्ययन में दो पद्धतिगत चुनौतियाँ सामने आती हैं। पहली, परवर्ती भारतीय राज्य-सिद्धांतों के आलोक में वैदिक साहित्य की व्याख्या करने से उसके मूल ऐतिहासिक संदर्भ पर उत्तरवर्ती राजनीतिक अवधारणाओं का आरोपण होने लगता है। दूसरी, वैदिक साहित्य में राज्य पर किसी व्यवस्थित प्रतिपादन के अभाव को राजनीतिक चिंतन के अभाव के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। दोनों स्थितियों में वैदिक साहित्य की अपनी वैचारिक विशिष्टता पर्याप्त रूप से उद्‌घाटित नहीं हो पाती। अतः आवश्यक है कि वैदिक ग्रंथों को उनके अपने ऐतिहासिक तथा वैचारिक संदर्भ में पढ़ते हुए उनमें निहित राजनीतिक अवधारणाओं का परीक्षण किया जाए। (थापर, रोमिला, 1984, 2002)

इस अध्ययन का केंद्रीय प्रश्न यह है कि क्या वैदिक साहित्य में उपलब्ध इन विविध राजनीतिक संकेतों को एक समेकित वैचारिक संरचना के रूप में पढ़ा जा सकता है, अथवा वे केवल स्वतंत्र धार्मिक एवं सामाजिक अवधारणाओं के रूप में ही समझे जाने चाहिए? यद्यपि वैदिक साहित्य में राज्य, प्रशासन अथवा राजसत्ता का कोई क्रमबद्ध सिद्धांत उपलब्ध नहीं है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें राजनीतिक जीवन के संबंध में कोई वैचारिक संकेत नहीं मिलते। (जैमिसन, स्टेफ़नी डब्ल्यू., एवं ब्रेरेटॉन, जोएल पी. (अनु.). (2014); कीथ, ए. बी,1925) इसके विपरीत, वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक शब्द, संस्थाएँ तथा अनुष्ठान वर्णित हैं, जो राजनीतिक संगठन की वैचारिक संरचना के विविध आयामों को उद्‌घाटित करते हैं। *ऋत* राजनीतिक व्यवस्था के नियामक आधार की ओर संकेत करता है; *जन, विश्, जनपद* तथा *राष्ट्र* राजनीतिक समुदाय की क्रमिक संरचना के विभिन्न आयामों को अभिव्यक्त करते हैं; *सभा, समिति,*

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

पुरोहित तथा *ग्रामणी* सत्ता के संस्थागत स्वरूप को समझने में सहायक हैं; जबकि *राजसूय* एवं *अश्वमेध* जैसे राजकीय अनुष्ठान राजसत्ता की वैधता तथा उसके सार्वजनिक अनुमोदन से संबंधित वैचारिक प्रक्रियाओं को उद्‌घाटित करते हैं। इन अवधारणाओं, संस्थाओं तथा अनुष्ठानों का पृथक-पृथक अध्ययन उनके विशिष्ट सामाजिक, धार्मिक अथवा अनुष्ठानिक संदर्भों को स्पष्ट अवश्य करता है, किन्तु उनके राजनीतिक महत्व का पूर्ण बोध तभी संभव है जब उन्हें एक परस्पर संबद्ध वैचारिक संरचना के रूप में पढ़ा जाए। प्रस्तुत अध्ययन का मूल प्रतिपादन यही है कि वैदिक साहित्य में राज्य-विचार का प्रारम्भिक स्वरूप किसी एक अवधारणा, संस्था अथवा अनुष्ठान में निहित नहीं है; वह इन सभी के परस्पर संबद्ध एवं अन्योन्याश्रित वैचारिक संबंधों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इसी संदर्भ में राजसूय तथा अश्वमेध जैसे राजकीय अनुष्ठानों का राजनीतिक महत्व स्पष्ट होता है।

2. वैदिक साहित्य के राजनीतिक अध्ययन की पद्धतिगत आधारभूमि

वैदिक साहित्य में राज्य के प्रारम्भिक तत्त्वों का विश्लेषण करने से पूर्व एक मूलभूत पद्धतिगत प्रश्न पर विचार आवश्यक है। प्रश्न यह नहीं है कि वैदिक साहित्य में राजनीतिक जीवन के उल्लेख उपलब्ध हैं, बल्कि यह है कि उन्हें किस प्रकार समझा जाए। किसी भी प्राचीन साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन तभी विश्वसनीय हो सकता है जब उसकी अवधारणाओं की व्याख्या उसके सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैचारिक संदर्भों में की जाए। वैदिक साहित्य के संदर्भ में यह सावधानी विशेषतः आवश्यक है, क्योंकि उसका काल, उद्देश्य तथा बौद्धिक संरचना परवर्ती भारतीय राजनीतिक ग्रंथों से भिन्न है। (थापर, 1984, 2002; शर्मा, 1983)

इस संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण पद्धतिगत चुनौती यह है कि वैदिक साहित्य की व्याख्या प्रायः उन राजनीतिक अवधारणाओं के आलोक में की जाती है जिनका विकास उत्तरवर्ती भारतीय परंपरा में हुआ। महाभारत, धर्मशास्त्रों अथवा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विकसित राज्य-संबंधी अवधारणाओं को सीधे वैदिक साहित्य पर आरोपित करने से उसकी ऐतिहासिक विशिष्टता धूमिल हो जाती है। ऐसी व्याख्या वैदिक स्रोतों को उनके संदर्भ में समझने के स्थान पर उन्हें परवर्ती राज्य-सिद्धांतों के अपूर्ण प्रारूप के रूप में देखने लगती है। (थापर, 1984; शर्मा, 1983)

इसके विपरीत, वैदिक साहित्य को केवल धार्मिक अथवा अनुष्ठानिक ग्रंथ मानकर उसके राजनीतिक पक्ष की उपेक्षा करना भी समान रूप से सीमित दृष्टिकोण है। वैदिक स्रोतों में शासन, राजसत्ता, राजनीतिक समुदाय, विचार-विमर्श, राजकीय अनुष्ठानों तथा सामाजिक संगठन से संबंधित अनेक संदर्भ प्राप्त होते

हैं। यद्यपि ये किसी क्रमबद्ध राजनीतिक ग्रंथ के रूप में व्यवस्थित नहीं हैं, तथापि उन्हें केवल धार्मिक आख्यानों या यज्ञीय प्रक्रियाओं तक सीमित कर देना उनके बहुआयामी स्वरूप के साथ न्याय नहीं करता। अतः परवर्ती अवधारणाओं के आरोपण तथा राजनीतिक आशयों की उपेक्षा—दोनों से बचना आवश्यक है। (जैमिसन एवं ब्रेरेटॉन, 2014; कीथ, 1925)

वैदिक साहित्य का उद्देश्य राज्यशास्त्र का प्रतिपादन नहीं था; फलतः राजनीतिक अवधारणाएँ इसमें स्वतंत्र विषय के रूप में नहीं, बल्कि धार्मिक, सामाजिक तथा अनुष्ठानिक संदर्भों के भीतर अंतर्निहित रूप से प्राप्त होती हैं। इसलिए वैदिक स्रोतों से किसी व्यवस्थित राज्य-सिद्धांत की अपेक्षा करने के बजाय, इन बिखरे हुए संदर्भों को उनके पाठीय एवं ऐतिहासिक संदर्भ में समझते हुए उनके पारस्परिक संबंधों का परीक्षण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। (जैमिसन एवं ब्रेरेटॉन, 2014; कीथ, 1925)

यद्यपि वैदिक साहित्य का क्षेत्र चारों वेदों, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र साहित्य तक विस्तृत है, तथापि इस अध्ययन की पाठ-सीमा मुख्यतः ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा उनसे संबद्ध प्रमुख ब्राह्मण ग्रंथों तक सीमित है।[1] इसका आधार यह है कि राज्य, राजनीतिक समुदाय, राजसत्ता तथा राजकीय अनुष्ठानों से संबंधित जिन अवधारणाओं का यहाँ परीक्षण किया गया है, उनके प्रमुख पाठीय साक्ष्य मुख्यतः इन्हीं स्रोतों में उपलब्ध हैं। अतः इस विवेचन के निष्कर्षों को भी इसी पाठ-सीमा के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

इसी आधार पर राज्य का कोई पूर्ण विकसित सिद्धांत खोजने के स्थान पर उन अवधारणाओं, संस्थाओं तथा राजकीय अनुष्ठानों का समेकित विश्लेषण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, जो वैदिक साहित्य में विभिन्न प्रसंगों में बिखरे हुए रूप में उपलब्ध हैं। इन संदर्भों का महत्त्व किसी एक मंत्र, संस्था अथवा अनुष्ठान में नहीं, बल्कि उनके परस्पर संबद्ध एवं अन्योन्याश्रित वैचारिक संबंधों में निहित है। जब ऋत, जन, विश्, जनपद, राष्ट्र, सभा, समिति, पुरोहित, ग्रामणी, राजसूय तथा अश्वमेध जैसे तत्त्वों को समेकित वैचारिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, तब वे शासन-संबंधी विचारों की ऐसी आधारभूमि का संकेत देते हैं जिसे पृथक अध्ययन के आधार पर पूरी तरह समझ पाना संभव नहीं है।

यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि वैदिक अवधारणाओं और उत्तरवर्ती भारतीय राज्य-सिद्धांतों के बीच प्रत्यक्ष समानता स्थापित करना इस विवेचन का उद्देश्य नहीं है। किसी अवधारणा का उत्तरवर्ती साहित्य में अधिक विकसित रूप प्राप्त होना यह सिद्ध नहीं करता कि वही स्वरूप वैदिक साहित्य में भी विद्यमान था। जहाँ कहीं वैचारिक निरंतरता के संकेत प्राप्त होते हैं, वहाँ उन्हें केवल राज्य-विचार के प्रारम्भिक तत्त्वों के रूप में ग्रहण किया गया है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर आगे ऋत, वैदिक राजनीतिक

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

शब्दावली, सभा, समिति, पुरोहित, ग्रामणी तथा राजकीय अनुष्ठानों का विश्लेषण किया जाएगा, ताकि उनके परस्पर संबंधों के आलोक में भारतीय राज्य-विचार की अवधारणात्मक आधारभूमि को समझा जा सके।

3. ऋत: राजव्यवस्था का नियामक आधार

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता केवल शक्ति पर निर्भर नहीं करती; वह उस आधार पर भी निर्भर करती है जिसके कारण सत्ता वैध मानी जाती है। यह प्रश्न केवल आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत तक सीमित नहीं है। शासन के आरम्भिक स्वरूपों में भी शासक की शक्ति की स्वीकृति तथा उसके आचरण की मर्यादा का प्रश्न उपस्थित रहता है। वैदिक साहित्य में इसका उत्तर किसी औपचारिक विधि-संहिता अथवा राजकीय विधान में नहीं, बल्कि ऋत की अवधारणा में निहित है। अतः राज्य के प्रारम्भिक तत्त्वों की खोज में ऋत का विश्लेषण राजव्यवस्था की वैधता को समझने की अनिवार्य पूर्वशर्त है।

वैदिक साहित्य में ऋत का उल्लेख मुख्यतः ब्रह्माण्डीय व्यवस्था, सत्य तथा नियमितता के संदर्भ में प्राप्त होता है। इसकी व्युत्पत्ति धातु √ऋ से मानी जाती है, जिसका संबंध गति, क्रम तथा यथोचित स्थिति से है। वैदिक दृष्टि में ऋत वह व्यवस्था है जिसके कारण प्रकृति, देवता, यज्ञ तथा मानव-जीवन अपने-अपने स्वाभाविक क्रम में संचालित होते हैं। सूर्य का नियमित उदय, ऋतुओं का परिवर्तन, यज्ञ की विधि तथा सत्य का पालन—ये सभी ऋत की अभिव्यक्तियाँ हैं। ऋग्वेद का "ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः" इसी व्यापक व्यवस्था की ओर संकेत करता है। (ऋग्वेद 9.73.6; जैमिसन एवं ब्रेरेटॉन, 2014)

यदि ऋत मूलतः ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का सिद्धांत है, तो उसका राजनीतिक महत्व क्या है? इसका उत्तर उन वैदिक संदर्भों में निहित है जहाँ राजसत्ता को भी उसी व्यवस्था के अधीन समझा गया है। ऋग्वेद में वरुण को "ऋतस्य गोपा" कहा गया है। यह उल्लेख केवल देवता का गुण-वर्णन नहीं, बल्कि उस वैचारिक दृष्टि का संकेत है जिसमें व्यवस्था सत्ता से पूर्ववर्ती है। राजसत्ता उसकी निर्माता नहीं, बल्कि संरक्षक है। अतः वैध सत्ता का आधार उसकी स्वेच्छा नहीं, बल्कि उस व्यापक व्यवस्था के अनुरूप आचरण है जिसे वैदिक साहित्य ऋत के रूप में अभिव्यक्त करता है। (ऋग्वेद 7.64.2; गोंडा, 1966)

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस निष्कर्ष को आधुनिक राजनीतिक अवधारणाओं के समतुल्य न माना जाए। वैदिक साहित्य में न तो ऐसी विधिक संस्थाएँ थीं जो राजसत्ता को औपचारिक रूप से नियंत्रित करती हों और न ही ऐसी संवैधानिक संरचना जिसके आधार पर आधुनिक अर्थों में उत्तरदायी शासन की चर्चा की जा सके। अतः ऋत की तुलना आधुनिक विधि, संविधान अथवा संवैधानिक शासन

से करना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। तथापि उपलब्ध वैदिक संदर्भ यह संकेत करते हैं कि राजसत्ता को निरपेक्ष अथवा स्वयंसिद्ध नहीं माना गया। उसकी वैधता एक ऐसी पूर्वस्थित व्यवस्था से संबद्ध थी जो शासक की इच्छा से स्वतंत्र थी। इस अर्थ में ऋत राजव्यवस्था का नियामक आधार है, उसका विधिक ढाँचा नहीं। (थापर, 1984)

ऋत के इस पक्ष की व्याख्या करते हुए यान गोंडा ने उसे वैदिक विश्वदृष्टि का आधारभूत संगठनात्मक सिद्धांत माना है, जबकि जॉर्ज द्युमेज़िल ने मित्र-वरुण संबंधी अपने विश्लेषण में व्यवस्था के संरक्षण में दण्ड तथा अनुबंध—दोनों के महत्व की ओर संकेत किया है। यद्यपि इन अध्ययनों का उद्देश्य राजनीतिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं था, तथापि उनकी व्याख्याएँ वैदिक व्यवस्था की उस अवधारणा को समझने में सहायक हैं जिसे केवल प्राकृतिक अथवा धार्मिक संदर्भों तक सीमित नहीं किया जा सकता। उपलब्ध वैदिक साक्ष्यों के साथ इनका समेकित अध्ययन इंगित करता है कि राजसत्ता की वैधता को पूर्वस्थित नियामक व्यवस्था से जोड़ने की प्रवृत्ति वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। (द्युमेज़िल, 1973; गोंडा, 1966)

ऋत की राजनीतिक प्रासंगिकता इसी तथ्य में निहित है कि वह सत्ता और व्यवस्था के संबंध का मानक आधार प्रस्तुत करता है। किन्तु केवल ऋत से राजव्यवस्था की संपूर्ण परिकल्पना निर्मित नहीं होती। यह आधार तभी राजनीतिक अर्थ ग्रहण करता है जब वह संगठित राजनीतिक समुदाय तथा संस्थागत संरचना से संबद्ध हो। इसी कारण आगे जन, विश्, जनपद तथा राष्ट्र जैसी अवधारणाओं का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

4. वैदिक राजनीतिक शब्दावली: राजनीतिक समुदाय की अवधारणात्मक संरचना

किसी भी राजनीतिक परंपरा में समुदाय की अवधारणा राज्य से पूर्ववर्ती होती है। राज्य संगठित राजनीतिक व्यवस्था का द्योतक है, जबकि समुदाय उसका सामाजिक आधार निर्मित करता है। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य की राजनीतिक शब्दावली का अध्ययन केवल भाषिक अर्थों का विश्लेषण नहीं, बल्कि उस वैचारिक प्रक्रिया को समझने का प्रयास है जिसके माध्यम से सामूहिक जीवन क्रमशः राजनीतिक संगठन का स्वरूप ग्रहण करता है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में प्रयुक्त जन, विश्, जनपद, भूमि तथा राष्ट्र जैसे शब्द इसी विकासक्रम के विभिन्न आयामों का संकेत करते हैं। पृथक रूप में इनका अर्थ सीमित प्रतीत हो सकता है, किन्तु समेकित रूप से ये राजनीतिक समुदाय की अवधारणात्मक संरचना को स्पष्ट करते हैं। (जैमिसन एवं ब्रेरेटॉन, 2014)

इस विकासक्रम का प्रारम्भ जन की अवधारणा से होता है। वैदिक साहित्य में जन का प्रयोग केवल जनसंख्या अथवा व्यक्तियों के समूह के अर्थ में नहीं, बल्कि ऐसे समुदाय के लिए हुआ है जिसकी पहचान साझा वंशीय स्मृति, सांस्कृतिक परंपराओं तथा सामूहिक जीवन से निर्मित होती है। पञ्च जनाः जैसे उल्लेख संकेत करते हैं कि वैदिक समाज स्वयं को अनेक संगठित समुदायों के रूप में देखता था। इस स्तर पर समुदाय का आधार न निश्चित भू-भाग था, न कोई विकसित राजनीतिक संस्था; उसकी एकता सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों पर आधारित थी। इसलिए जन को राज्य का पर्याय नहीं माना जा सकता, किन्तु राजनीतिक संगठन ऐसी सामूहिक पहचान के बिना विकसित भी नहीं हो सकता। (ऋग्वेद 1.89.10; घोषाल, 1959)

किन्तु केवल साझा पहचान किसी राजनीतिक समुदाय के लिए पर्याप्त नहीं होती। उसे सामाजिक एवं आर्थिक आधार भी चाहिए। यही आयाम विश् की अवधारणा में व्यक्त होता है। सामान्यतः विश् का अर्थ सामान्य जन अथवा उत्पादक समुदाय माना जाता है, परंतु राजनीतिक दृष्टि से उसका महत्व इससे व्यापक है। विश् उस सामाजिक आधार का प्रतिनिधित्व करता है जिसके भीतर उत्पादन, निर्वाह तथा सामुदायिक जीवन की निरंतरता संभव होती है। जहाँ जन सामूहिक पहचान का बोध कराता है, वहीं विश् उसका सामाजिक आधार स्पष्ट करता है। दोनों को पृथक नहीं, बल्कि परस्पर पूरक अवधारणाओं के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार वैदिक राजनीतिक समुदाय किसी एक प्रभुत्वशाली वर्ग पर नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक आधार पर निर्मित प्रतीत होता है। (ऋग्वेद 1.25.1; अल्तेकर, 1958; घोषाल, 1959)

समुदाय और उसके सामाजिक आधार की यह संरचना जनपद के साथ नया आयाम ग्रहण करती है। यहाँ पहली बार समुदाय और भूमि के मध्य अपेक्षाकृत स्थायी संबंध की कल्पना उभरती है। जब किसी समुदाय की पहचान किसी विशिष्ट भू-भाग से जुड़ती है, तब राजनीतिक संगठन में क्षेत्रीयता का तत्व विकसित होता है। यह कहना उचित नहीं होगा कि वैदिक साहित्य में परवर्ती अर्थों का क्षेत्रीय राज्य विद्यमान था; तथापि समुदाय की पहचान अब केवल वंशीय अथवा सांस्कृतिक संबंधों तक सीमित नहीं रहती, बल्कि भूमि भी उसकी संरचना का महत्त्वपूर्ण अवयव बन जाती है। (अथर्ववेद 12.1.45; शर्मा, 1983)

इस वैचारिक विकास का सबसे सशक्त प्रतिपादन अथर्ववेद के भूमि सूक्त में मिलता है। यहाँ भूमि केवल निवास-स्थान नहीं, बल्कि जीवन, संरक्षण, समृद्धि तथा सामूहिक अस्तित्व की आधारभूमि है। "माता भूमिः

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

पुत्रोऽहं पृथिव्याः" आधुनिक राष्ट्रवाद का प्रतिपादन नहीं करता, किन्तु यह स्पष्ट करता है कि भूमि और समुदाय का संबंध केवल आर्थिक अथवा भौतिक नहीं था। समुदाय द्वारा स्वयं को स्थायी भू-आधार से जोड़कर देखने के कारण भूमि सामूहिक अस्तित्व का वैचारिक आधार भी बनती है। (अथर्ववेद 12.1.12; शर्मा, 1983)

इसी विकासक्रम में राष्ट्र की अवधारणा का महत्व स्पष्ट होता है। वैदिक साहित्य में राष्ट्र केवल व्यक्तियों, कुलों अथवा वंशीय समूहों का समुच्चय नहीं, बल्कि व्यापक संगठित इकाई का द्योतक है। यद्यपि इसे आधुनिक राष्ट्र-राज्य के अर्थ में ग्रहण करना अनुचित होगा, तथापि उपलब्ध वैदिक संदर्भ संकेत करते हैं कि यहाँ राजनीतिक समुदाय अपेक्षाकृत व्यापक स्वरूप ग्रहण कर चुका था। इस स्तर पर उसका आधार केवल रक्त-संबंध नहीं, बल्कि साझा सामाजिक जीवन, भूमि, संगठन तथा राजसत्ता से संबंधित संबंधों का समेकित रूप है। इस प्रकार राष्ट्र राजनीतिक समुदाय के विकास का अंतिम नहीं, बल्कि अधिक परिपक्व चरण प्रस्तुत करता है। (ऋग्वेद 10.125; अथर्ववेद 12.1.54, 12.1.56; घोषाल, 1959; शर्मा, 1983)

इन अवधारणाओं का महत्व इस तथ्य में निहित है कि इनमें से कोई भी अकेले वैदिक राजनीतिक समुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इनके पारस्परिक संबंधों से ही उसकी सामाजिक पहचान, भू-आधार तथा व्यापक राजनीतिक स्वरूप क्रमशः स्पष्ट होता है। इस प्रकार वैदिक राजनीतिक शब्दावली स्थिर परिभाषाओं का संग्रह नहीं, बल्कि राजनीतिक समुदाय के क्रमिक वैचारिक विकास का दर्पण है.

5. सभा, समिति, पुरोहित एवं ग्रामणी: राजसत्ता की संस्थागत संरचना

राजनीतिक समुदाय के निर्माण के साथ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उसका संचालन किस प्रकार होता है। यदि जन, विश्, जनपद तथा राष्ट्र राजनीतिक समुदाय की संरचना का संकेत देते हैं, तो उसके संगठन, निर्णय तथा नेतृत्व के लिए संस्थागत व्यवस्थाओं की अपेक्षा भी स्वाभाविक है। वैदिक साहित्य में सभा, समिति, पुरोहित तथा ग्रामणी के उल्लेख इसी संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। इनका महत्व पृथक संस्थाओं के रूप में नहीं, बल्कि राजसत्ता और समुदाय के मध्य संबंधों को समझने में है। (घोषाल, 1959; अल्तेकर, 1958)

यदि राजनीतिक समुदाय को संगठित रूप से कार्य करना है, तो विचार-विमर्श और सामूहिक निर्णय की संस्थाएँ भी अपेक्षित हैं। वैदिक साहित्य में सभा और समिति इसी आवश्यकता की पूर्ति करती दिखाई देती हैं। उपलब्ध संदर्भों से स्पष्ट है कि इनके माध्यम से सामूहिक विचार-विमर्श और सार्वजनिक

सहभागिता को अभिव्यक्ति मिलती थी। इसका सर्वाधिक स्पष्ट प्रतिपादन ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त में मिलता है—"समानो मन्त्रः समितिः समानी..."। यद्यपि इनके स्वरूप को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं—कुछ सभा को विशिष्ट व्यक्तियों तथा समिति को व्यापक जनसमुदाय का निकाय मानते हैं, जबकि अन्य दोनों के कार्यों में पर्याप्त आच्छादन स्वीकार करते हैं—फिर भी इन्हें आधुनिक संसद अथवा प्रतिनिधि शासन के समकक्ष रखना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। (ऋग्वेद 10.191.2–3; अथर्ववेद 7.12.1–2; कीथ, 1925; अल्तेकर, 1958; घोषाल, 1959)

सभा और समिति को आधुनिक लोकतांत्रिक संस्थाओं के रूप में व्याख्यायित करना कालविपर्यास होगा, क्योंकि वैदिक समाज की सामाजिक संरचना, प्रतिनिधित्व तथा निर्णय-प्रक्रिया आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं से भिन्न थी। तथापि उनका महत्व केवल औपचारिक अथवा अनुष्ठानिक भी नहीं था। उपलब्ध संदर्भ इंगित करते हैं कि राजसत्ता और समुदाय के मध्य संवाद तथा परामर्श की एक संस्थागत परंपरा विद्यमान थी। (ऋग्वेद 10.191.2; कीथ, 1925; स्पेलमैन, 1964)

यदि सभा और समिति सामूहिक विचार-विमर्श की संस्थाएँ थीं, तो पुरोहित उस आयाम का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ राजसत्ता का संबंध वैधता तथा ऋत पर आधारित व्यवस्था से स्थापित होता है। उसका महत्व केवल यज्ञ कराने वाले धार्मिक अधिकारी का नहीं, बल्कि राजा के परामर्शदाता, यज्ञीय वैधता के संरक्षक तथा राजनीतिक निर्णयों के सहभागी का भी है। राज्याभिषेक के प्रसंग में पुरोहित द्वारा धर्मदंड के माध्यम से राजा को मर्यादा का स्मरण कराया जाना इसी सिद्धांत का प्रतीक है। शतपथ ब्राह्मण/बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन—"तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः..."—स्पष्ट करता है कि धर्म स्वयं राजसत्ता से उच्चतर नियामक सिद्धांत है। इस प्रकार पुरोहित केवल धार्मिक अधिकारी नहीं, बल्कि राजसत्ता की संस्थागत संरचना और उसकी वैचारिक वैधता के मध्य सेतु के रूप में उभरता है। (बृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.14; घोषाल, 1959)

इसी प्रकार ग्रामणी स्थानीय नेतृत्व का महत्त्वपूर्ण संकेतक है। उसकी भूमिका दर्शाती है कि राजनीतिक संगठन केवल राजा और अभिजात वर्ग तक सीमित नहीं था, बल्कि स्थानीय स्तर पर भी नेतृत्व की व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं। अथर्ववेद में ग्रामणी को "राजकृतः" अर्थात् राजा बनाने वाला कहा गया है, जो उसके राजनीतिक महत्व को रेखांकित करता है। यद्यपि उसके अधिकारों का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है, तथापि इतना स्पष्ट है कि वैदिक समाज में राजनीतिक संगठन के विभिन्न स्तरों के मध्य संस्थागत संबंध विद्यमान थे। (अथर्ववेद [राजकृतः वाला मंत्र]; शर्मा, 1983)

इन संस्थाओं का महत्व किसी विकसित प्रशासनिक व्यवस्था के अस्तित्व को सिद्ध करने में नहीं, बल्कि राजसत्ता की संस्थागत प्रकृति को समझने में है। सभा, समिति, पुरोहित तथा ग्रामणी को समेकित रूप से देखने पर स्पष्ट होता है कि वैदिक साहित्य में शासन केवल राजा के व्यक्तित्व पर आधारित नहीं था; वह संस्थाओं, परामर्श और सामाजिक नेतृत्व से संचालित होता था। तथापि संस्थागत संगठन ही पर्याप्त नहीं था। राजसत्ता को व्यापक सामाजिक स्वीकृति और वैधता की भी आवश्यकता थी।

राजसूय एवं अश्वमेध: राजसत्ता की वैधता और राज्य-विस्तार के वैदिक आयाम

राजनीतिक समुदाय के निर्माण तथा उसकी संस्थागत संरचना के पश्चात एक मूलभूत प्रश्न शेष रह जाता है—राजसत्ता स्वयं वैध कैसे बनती है? केवल शक्ति किसी शासक को स्थायी राजनीतिक स्वीकृति प्रदान नहीं कर सकती। किसी भी समाज में सत्ता की स्वीकृति सांस्कृतिक एवं संस्थागत माध्यमों से निर्मित होती है। वैदिक साहित्य में यह प्रक्रिया मुख्यतः राजकीय अनुष्ठानों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इस दृष्टि से राजसूय तथा अश्वमेध का महत्व केवल धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में नहीं, बल्कि राजसत्ता की सार्वजनिक स्वीकृति तथा उसके विस्तार से संबंधित वैचारिक प्रक्रियाओं के रूप में भी है। (शतपथ ब्राह्मण 5.3.3.12 & 5.4.4.5; तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.8.9; घोषाल, यू. एन, 1959; अल्तेकर, ए. एस, 1958)

राजसूय वैदिक परंपरा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजाभिषेक अनुष्ठान माना गया है। सामान्यतः इसे धार्मिक संस्कार के रूप में देखा जाता है, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से इसका महत्व कहीं अधिक व्यापक है। उसका उद्देश्य केवल राजा का अभिषेक नहीं, बल्कि उसकी सत्ता का सार्वजनिक एवं अनुष्ठानिक वैधीकरण था। अभिषेक, विविध अनुष्ठानों में सहभागिता तथा विभिन्न सामाजिक शक्तियों की उपस्थिति संकेत करती है कि राजत्व केवल व्यक्तिगत अधिकार का विषय नहीं था; उसकी स्थापना व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक स्वीकृति से जुड़ी थी। इस प्रकार राजसूय राजसत्ता की वैधता के सार्वजनिक प्रतिपादन के रूप में भी समझा जा सकता है। (शतपथ ब्राह्मण 5.3.3.12 5.4.4.5; हीस्टरमैन, जे. सी, 1957)

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राजसूय को आधुनिक अर्थों में राज्याभिषेक अथवा संवैधानिक शपथ ग्रहण के समतुल्य नहीं माना जा सकता। ऐसी तुलना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगी। तथापि राजसूय केवल धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं था। यदि ऐसा होता, तो उसकी जटिल संरचना, विभिन्न सामाजिक घटकों की सहभागिता तथा राजकीय प्रतीकों की केंद्रीय भूमिका को समझाना कठिन होता। उपलब्ध वैदिक एवं ब्राह्मणीय संदर्भ यह संकेत करते हैं कि यह अनुष्ठान सत्ता के सांस्कृतिक वैधीकरण की प्रक्रिया

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

का अभिन्न अंग था। इसलिए राजसूय को केवल धार्मिक अनुष्ठान मानना उसके राजनीतिक महत्व को सीमित कर देगा। (हीस्टरमैन, जे. सी, 1957; घोषाल, यू. एन, 1959)

यदि राजसूय राजसत्ता की वैधता का अनुष्ठान है, तो अश्वमेध उसकी सार्वभौमिकता के दावे का। मुक्त अश्व का विभिन्न दिशाओं में विचरण केवल धार्मिक क्रिया नहीं, बल्कि राजा के राजनीतिक दावे की सार्वजनिक अभिव्यक्ति था। अश्वमेध के माध्यम से राजा स्वयं को सामान्य कबीलाई मुखिया से ऊपर उठाकर सर्वोच्च प्रभु के रूप में प्रतिष्ठित करता था। *श्रीर्वै राष्ट्रम्। राष्ट्रं वा अश्वमेधः।*" (शतपथ ब्राह्मण 13.2.11.2; 13.1.2.9) तथापि इसका उद्देश्य आधुनिक अर्थों में साम्राज्यवाद नहीं था; यह राजसत्ता के विस्तार, प्रतिष्ठा तथा प्रभुत्व का वैचारिक प्रतिपादन था। (अल्तेकर, ए. एस. 1958; हीस्टरमैन, जे. सी, 1957)

राजसूय और अश्वमेध का संयुक्त अध्ययन एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। जहाँ राजसूय राजसत्ता की आंतरिक स्वीकृति और वैधता का अनुष्ठानिक रूप प्रस्तुत करता है, वहीं अश्वमेध उसके बाह्य विस्तार और प्रतिष्ठा का। दोनों अनुष्ठान स्पष्ट करते हैं कि वैदिक चिंतन में राजसत्ता केवल शासन की क्षमता नहीं, बल्कि सामाजिक स्वीकृति और राजनीतिक प्रतिष्ठा—दोनों पर आधारित थी। इसलिए इन्हें केवल यज्ञीय परंपरा के संदर्भ में पढ़ना पर्याप्त नहीं; वे राजसत्ता की वैचारिक संरचना के भी महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

इस प्रकार राजसूय और अश्वमेध राजसत्ता को केवल शक्ति नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, अनुष्ठानिक और सामुदायिक प्रक्रियाओं से वैधता प्राप्त संस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से वैदिक राजकीय अनुष्ठान धर्म और राजनीति के पृथक क्षेत्र नहीं, बल्कि उनके अंतर्संबंध का बिंदु हैं। ऋत, राजनीतिक समुदाय, संस्थागत संरचना और राजकीय वैधता—इन सभी को समेकित रूप में देखने पर वैदिक राज्य-विचार की व्यापक वैचारिक संरचना स्पष्ट होती है।

राज्य की वैचारिक परिकल्पना: वैदिक साक्ष्यों का समेकित विश्लेषण एवं निष्कर्ष

अब तक के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में राज्य का कोई व्यवस्थित सिद्धांत उपलब्ध नहीं है। तथापि इससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या उसमें ऐसी वैचारिक संरचना विद्यमान है जिसके आधार पर राज्य की परिकल्पना को समझा जा सके। उत्तर सकारात्मक है, किन्तु इस अर्थ में नहीं कि वैदिक साहित्य किसी विकसित राज्य की संपूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करता है। उपलब्ध साक्ष्यों का समेकित अध्ययन संकेत करता है कि राज्य-विचार यहाँ अनेक परस्पर संबद्ध वैचारिक आयामों के माध्यम से

क्रमशः अभिव्यक्त होता है। पृथक रूप में उनका राजनीतिक महत्व सीमित प्रतीत हो सकता है, किन्तु समेकित रूप में वे राजव्यवस्था की सुसंगत वैचारिक संरचना का निर्माण करते हैं।

इस संरचना का प्रथम आयाम ऋत है। पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट हुआ कि ऋत केवल ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का सिद्धांत नहीं, बल्कि राजसत्ता की वैधता का मानक आधार भी है। वह स्वयं राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण नहीं करता, बल्कि उसके लिए वैधता की कसौटी निर्धारित करता है। इसलिए उसकी राजनीतिक सार्थकता राजनीतिक समुदाय की अवधारणाओं के साथ पढ़े जाने पर ही स्पष्ट होती है।

दूसरा आयाम जन, विश्, जनपद, भूमि तथा राष्ट्र की अवधारणाओं से निर्मित होता है। यदि ऋत सत्ता के लिए मानक व्यवस्था प्रदान करता है, तो ये अवधारणाएँ उस समुदाय की पहचान निर्मित करती हैं जिसके भीतर वह व्यवस्था अर्थ ग्रहण करती है। समुदाय के बिना न राजसत्ता की कल्पना संभव है, न राजनीतिक व्यवस्था की। इसी कारण वैदिक राजनीतिक शब्दावली केवल सामाजिक वर्गीकरण नहीं, बल्कि राजनीतिक समुदाय के क्रमिक निर्माण को अभिव्यक्त करती है।

यह समुदाय सभा, समिति, पुरोहित तथा ग्रामणी जैसी संस्थाओं में संस्थागत अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। यदि राजनीतिक समुदाय राजव्यवस्था की सामाजिक आधारभूमि है, तो ये संस्थाएँ उसकी कार्यात्मक अभिव्यक्ति हैं। इनके माध्यम से स्पष्ट होता है कि राजसत्ता केवल व्यक्ति-विशेष की इच्छा पर नहीं, बल्कि परामर्श, नेतृत्व, स्थानीय संगठन तथा वैचारिक मार्गदर्शन जैसी प्रक्रियाओं से संचालित होती थी।

किन्तु न मानक व्यवस्था, न समुदाय और न ही संस्थाएँ अपने-आप में राजसत्ता को स्थायित्व प्रदान कर सकती थीं। सत्ता को सामाजिक स्वीकृति की भी आवश्यकता थी। यही कारण है कि राजसूय तथा अश्वमेध इस वैचारिक संरचना का चौथा आयाम प्रस्तुत करते हैं। ये अनुष्ठान केवल धार्मिक संस्कार नहीं, बल्कि राजसत्ता के सार्वजनिक वैधीकरण तथा उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा की प्रक्रियाएँ भी हैं। इस प्रकार वैधता वैदिक राजनीतिक चिंतन में समुदाय, संस्था और व्यवस्था—तीनों के मध्य स्थापित संबंधों की सार्वजनिक अभिव्यक्ति है।

इन सभी आयामों का समेकित अध्ययन इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता है कि वैदिक साहित्य में राज्य-विचार के प्रारम्भिक तत्त्व किसी रैखिक विकासक्रम के रूप में नहीं, बल्कि एक परस्पर संबद्ध वैचारिक संरचना के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। ऋत के बिना राजसत्ता की वैधता का मानक आधार अस्पष्ट रहता है; राजनीतिक समुदाय के बिना उसका सामाजिक संदर्भ निर्मित नहीं होता; संस्थाओं के बिना वह राजनीतिक संगठन का रूप ग्रहण नहीं कर सकता; और राजकीय वैधीकरण के बिना उसे

व्यापक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं होती। अतः इन अवधारणाओं की वास्तविक राजनीतिक अर्थवत्ता उनके पृथक अस्तित्व में नहीं, बल्कि उनके पारस्परिक संबंधों में निहित है।

अतः वैदिक साहित्य का राजनीतिक महत्व किसी विकसित राज्य-सिद्धांत की उपलब्धता में नहीं, बल्कि उस अवधारणात्मक आधारभूमि में निहित है जिसके भीतर राज्य की परिकल्पना अपने प्रारम्भिक स्वरूप में आकार ग्रहण करती है। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य केवल धार्मिक वाङ्मय नहीं, बल्कि भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य-विचार के प्रारम्भिक सूत्रों का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

संदर्भ सूची

- अल्तेकर, ए. एस. (1958). *State and Government in Ancient India* (3rd ed.). मोतीलाल बनारसीदास।
- ऐतरेय ब्राह्मण। (1920). *The Aitareya Brāhmaṇa* (A. B. Keith, Trans.). Harvard University Press.
- अथर्ववेद। (1897). *The Atharva-Veda Saṁhitā* (W. D. Whitney, Trans., 2 vols.). Harvard University Press.
- बैशम, ए. एल. (1954). *The Wonder That Was India*. Sidgwick & Jackson.
- द्युमेज़िल, जॉर्ज. (1973). *The Destiny of a King*. University of Chicago Press.
- घोषाल, यू. एन. (1959). *A History of Indian Political Ideas*. Oxford University Press.
- गोंडा, जान. (1959). *Four Studies in the Language of the Veda*. Mouton.
- गोंडा, जान. (1963). *The Vision of the Vedic Poets*. Mouton.
- गोंडा, जान. (1966). *Ancient Indian Kingship from the Religious Point of View*. E. J. Brill.
- हीस्टरमैन, जे. सी. (1957). *The Ancient Indian Royal Consecration*. Mouton.
- जैमिसन, स्टेफ़नी डब्ल्यू., एवं ब्रेरेटॉन, जोएल पी. (अनु.). (2014). *The Rigveda: The Earliest Religious Poetry of India* (3 vols.). Oxford University Press.
- कीथ, ए. बी. (1925). *The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads* (2 vols.). Harvard University Press.

- मैकडॉनेल, ए. ए., एवं कीथ, ए. बी. (1912). *Vedic Index of Names and Subjects* (2 vols.). John Murray.
- शर्मा, आर. एस. (1983). *Material Culture and Social Formations in Ancient India*. Macmillan.
- शतपथ ब्राह्मण। (1900). *The Śatapatha Brāhmaṇa* (J. Eggeling, Trans.). Oxford University Press. (Sacred Books of the East, Vols. 12, 26, 41, 43, 44).
- स्पेलमैन, जे. डब्ल्यू. (1964). *Political Theory of Ancient India*. Oxford University Press.
- थापर, रोमिला. (1984). *From Lineage to State: Social Formations in the Mid-First Millennium B.C. in the Ganga Valley*. Oxford University Press.
- थापर, रोमिला. (2002). *Early India: From the Origins to AD 1300*. Penguin Books.